



Original Article

21 वीं सदी के हिंदी साहित्य तथा सिनेमा में चित्रित किसान समस्याएँ

अल्फिया अबुबकर मुल्ला

एम.ए. भाग 2

सदगुरु गाडगे महाराज कॉलेज, कराड

Manuscript ID:

IJAAR-C130376

ISSN: 2347-7075

Impact Factor – 8.141

Volume - 13

Issue - 3

January – February 2026

Pp. 396 - 400

Submitted: 07 Feb. 2026

Revised: 17 Feb. 2026

Accepted: 20 Feb. 2026

Published: 28 Feb. 2026

Corresponding Author:

अल्फिया अबुबकर मुल्ला

Quick Response Code:



Website: <https://ijaar.co.in/>



DOI: 10.5281/zenodo.22787395

DOI Link:

<https://doi.org/10.5281/zenodo.22787395>



Creative Commons



सार:

21वीं सदी के हिंदी साहित्य और सिनेमा में किसान जीवन का यथार्थ अत्यंत मार्मिक और जटिल रूप में सामने आता है। पारंपरिक रूप से किसान को 'अन्नदाता' और आदर्श ग्रामीण जीवन के प्रतीक के रूप में देखा गया, लेकिन समकालीन रचनाएँ इस छवि को तोड़कर उसके संघर्षपूर्ण जीवन को उजागर करती हैं। प्रसिद्ध लेखक संजीव द्वारा लिखित उपन्यास 'फाँस' में विदर्भ के किसानों की आत्महत्याएँ, कर्ज का बोझ और आर्थिक असुरक्षा का भयावह चित्रण मिलता है। यह उपन्यास दिखाता है कि खेती अब लाभ का साधन नहीं, बल्कि कर्ज और निराशा का जाल बनती जा रही है।

इसी प्रकार 'पीपली लाइव' इस फिल्म में किसान की मौत को मीडिया और राजनीति द्वारा तमाशा बनाए जाने की विडंबना को उजागर करती है। वहीं 'कड़वी हवा' पर्यावरण संकट और सूखे की मार झेलते किसानों की त्रासदी को सामने लाती है। इन फिल्मों में किसान केवल आर्थिक संकट से नहीं, बल्कि सामाजिक उपेक्षा और मानसिक अकेलेपन से भी जूझता दिखाई देता है।

मैत्रेयी पुष्पा की रचनाएँ इस विमर्श में स्त्री दृष्टि जोड़ती हैं, जहाँ किसान स्त्रियों के श्रम और पीड़ा को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। वहीं प्रेमचंद द्वारा लिखित 'गोदान' के होरी से तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि आज किसान की समस्याएँ स्थानीय साहूकार से बढ़कर वैश्विक बाजार, कंपनियों और नीतियों तक फैल चुकी हैं।

अंततः साहित्य और सिनेमा यह सिद्ध करते हैं कि किसान आत्महत्या व्यक्तिगत कमजोरी नहीं, बल्कि व्यवस्थागत विफलता का परिणाम है। ये कृतियाँ हमें आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती हैं और याद दिलाती हैं कि किसान का संघर्ष केवल उसका निजी संघर्ष नहीं, बल्कि पूरे समाज की जिम्मेदारी है।

मुख्य शब्द: किसान संकट, कर्ज और गरीबी, साहित्य और सिनेमा, मानसिक तनाव / आत्महत्या, संघर्ष और अस्तित्व

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International License (CC BY-NC-SA 4.0), which permits others to remix, adapt, and build upon the work non-commercially, provided that appropriate credit is given and that any new creations are licensed under identical terms.

How to cite this article:

अल्फिया अबुबकर मुल्ला. (2026). 21 वीं सदी के हिंदी साहित्य तथा सिनेमा में चित्रित किसान समस्याएँ. *International Journal of Advance and Applied Research*, 13(3), 396 - 400. <https://doi.org/10.5281/zenodo.22787395>



प्रस्तावना:

भारत को कृषि प्रधान देश कहा जाता है, और यहाँ के किसान को 'अन्नदाता' कहकर उसे ईश्वर का दर्जा दिया गया है। लेकिन सच्चाई यह है कि 21वीं सदी के इस 'चमकते भारत' और डिजिटल क्रांति के शोर में यही अन्नदाता किनारे पर खड़ा अपनी पहचान और अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है। आज़ादी को इतने साल बीत जाने के बाद भी किसान की जिंदगी में असली बदलाव नहीं आया है, बल्कि मुसीबतों ने नए-नए रूप ले लिए हैं।

अगर प्रेमचंद का होरी सिर्फ सूदखोर के कर्ज और सामाजिक बंदिशों के बीच दबा हुआ था, तो आज का किसान कहीं बड़ी समस्याओं के चक्रव्यूह में फँस गया है। अब उसे वैश्विक बाज़ार से लेना-देना है, मौसम के बदलते मिज़ाज से जूझना है, और बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने टिकना है जो उसकी मेहनत की कमाई पर डोरे डाल रही हैं।

21वीं सदी के शुरुआती दो दशकों में बनी हिंदी फिल्मों और लिखे गए साहित्य में किसान की यह नई तकलीफ़ कैसे उभरकर सामने आई है। क्योंकि साहित्य और सिनेमा, समाज के आईने की तरह होते हैं – वो न सिर्फ हमारी सच्चाई दिखाते हैं, बल्कि हमें सोचने पर भी मजबूर करते हैं। जैसे संजीव का उपन्यास 'फाँस' पढ़ें तो विदर्भ के खेतों की दहला देने वाली सच्चाई सामने आती है, जहाँ फसलों के साथ-साथ किसानों की लाशें भी उगती हैं। वहीं 'पीपली लाइव' और 'कड़वी हवा' जैसी फ़िल्में दिखाती हैं कि कैसे एक किसान की मौत भी मीडिया के लिए महज़ एक TRP का खेल बनकर रह गई है, और राजनेताओं के लिए वोट माँगने का एक और मौका।

यह समय किसान के लिए बहुत मुश्किलों भरा है। एक तरफ़ खेती में अब उतना मुनाफ़ा नहीं रहा, दूसरी तरफ़ गाँव का

नौजवान खेती से किनारा करता जा रहा है। साहित्य और सिनेमा में दिखती ये तस्वीरें सिर्फ कल्पना नहीं हैं, बल्कि उस करुण सच की गवाह हैं जिसे हम विकास के तमाशे में कहीं खो देते हैं। यह लेख उसी अनदेखे भारत के दर्द को, उसकी बेबसी को शब्दों और दृश्यों के ज़रिए समझने की एक छोटी सी कोशिश है।

विषय प्रवेश:

हम जब भी किसानों की बात करते हैं, तो अक्सर एक आदर्श छवि मन में बन जाती है – खेतों में हरियाली, बैलों के साथ किसान की तस्वीर। लेकिन 21वीं सदी के साहित्य और सिनेमा ने इस छवि को पूरी तरह तोड़ दिया है। आज का किसान उस आदर्श से बहुत दूर, एक जटिल और क्रूर यथार्थ में जी रहा है। संजीव का उपन्यास 'फाँस' इसका सबसे सशक्त उदाहरण है। विदर्भ के कपास का उत्पादन लेने वाले किसानों पर लिखा यह उपन्यास पढ़ते हुए मैं सोचने पर मजबूर हो गयी – क्या खेती अब जीविका का साधन नहीं रही? उपन्यास का पात्र शकुन कहती है कि – “इस देश का किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही मर जाता है।”¹ तो यह महज़ एक संवाद नहीं, बल्कि उस दर्द का प्रतीक है जहाँ खेती कर्ज के जाल में बदल गई है। संजीव ने यथार्थ रूप से अंकन किया है कि, “शेत क्यों बंजर हो जाता है और क्यों बंजर हो जाता है आदमी का मन?” इस मरण के खिलाफ उठकर खड़े होने की कोशिश में बार-बार लड़खड़ा कर क्यों गिरता है आदमी?”² - यह दिखाता है कि किसान की स्थिति कहाँ पहुँच गई है। 'फाँस' सिर्फ फाँसी का प्रतीक नहीं, बल्कि उस मानसिक, आर्थिक और सामाजिक घुटन का नाम है जो हर तरफ से किसान का गला घोट रही है।



शकुन कहती है, "किसी के जुए में एक बेल एक भैंसा होता है। एक आध के जुए में इंसान भी।"³ विदर्भ के किसानों का यह दृश्य बहुत ही दर्दनाक और असंवेदनशील है। परंतु क्या करें, वह ऐसी दुर्दशा में फँसा है कि उसके पास न बैल है और न ही आधुनिक उपकरण। व्यवस्था के जुए में बंध कर सरकार, पूंजीपतियों और अमीरों के लिए फसल उगाने को बाध्य हो रहा है।

इस पूरे विमर्श में मैत्रेयी पुष्पा का योगदान बेहद अहम है। उनकी रचनाएँ हमें याद दिलाती हैं कि किसान समस्या सिर्फ पुरुषों तक सीमित नहीं है। उनकी कहानियों की स्त्रियाँ खेतों में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करती हैं, लेकिन उनके श्रम की कोई कीमत नहीं। जब पुरुष आत्महत्या कर लेता है, तो यही स्त्री कर्ज, बच्चों और सामाजिक तिरस्कार का तिहरा बोझ अकेले उठाती है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'इदन्त्रमम' में नायिका मंदा के माध्यम से स्त्री किसान के शोषण को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मंदा का कथन- "हमारे पसीने की कीमत कौन देगा?"⁴ - स्त्री श्रम की उपेक्षा और आर्थिक असमानता को उजागर करता है। यह कथन दर्शाता है कि ग्रामीण समाज में महिला किसान का श्रम अदृश्य बना दिया जाता है और उसे उचित सम्मान तथा अधिकार नहीं मिल पाते। इस प्रकार यह संवाद केवल व्यक्तिगत पीड़ा नहीं, बल्कि पूरे किसान समाज की सामूहिक समस्या का प्रतीक बन जाता है।- आज भी गूँजता है और हमें सोचने पर मजबूर करता है कि हमने महिला किसानों की मेहनत को कितना महत्व दिया।

प्रेमचंद के 'गोदान' से तुलना करें तो एक बात साफ हो जाती है। होरी भी कर्ज में था, साहूकार से लड़ता था, लेकिन उसकी लड़ाई एक सीमित दायरे में थी। आज का किसान चाहे 'फाँस' की पात्र शकुन हो या 'पीपली लाइव' का नत्था उसकी

लड़ाई बहुराष्ट्रीय कंपनियों, बैंकों, बीमा नीतियों और वैश्विक बाजार से है। होरी गाय दान करने का सपना देखता था, आज का किसान सिर्फ यह सपना देखता है कि उसकी जमीन नीलाम न हो, उसके बच्चे भूखे न सोएं। यह बदलाव दिखाता है कि समस्या का स्वरूप कितना बदल गया है, लेकिन मूल संकट कर्ज और गरीबी आज भी वैसी ही है।

हिंदी सिनेमा ने इन कहानियों को हम तक पहुँचाने का अहम काम किया है। भारत में सिनेमा को नियंत्रित करने वाला Cinematograph Act, 1952 फिल्मों के प्रमाणन और प्रदर्शन को नियंत्रित करता है। किसान जैसे संवेदनशील मुद्दों पर बनी फिल्मों का सार्वजनिक प्रदर्शन इसी कानूनी ढाँचे के अंतर्गत संभव होता है। यह दर्शाता है कि राज्य और सिनेमा के बीच संबंध किस प्रकार सामाजिक यथार्थ को प्रभावित करते हैं।

अनुषा रिजवी की 'पीपली लाइव' इसका शानदार उदाहरण है। यह फिल्म देखते हुए मैं बार-बार सोचती हूँ— आखिर किस मुकाम पर पहुँचकर कोई इंसान यह मान लेता है कि मरना ही बेहतर है? बुधिया का वह संवाद – "मेरेगा नहीं तो मुआवजा कैसे मिलेगा? सरकार जिंदा आदमी को कुछ नहीं देती, मरने के बाद ही उसकी कीमत लगती है"⁵ - मेरे दिमाग में हमेशा रहेगा। यह सवाल उठता है कि जहाँ जिंदा इंसान की कोई कीमत नहीं, वहाँ मौत 'ब्रेकिंग न्यूज' कैसे बन जाती है। फिल्म का वह टूटा हुआ हैंडपंप आज भी सरकारी योजनाओं की नाकामी का प्रतीक बना हुआ है।

वहीं 'कड़वी हवा' ने एक नया आयाम जोड़ा – पर्यावरण संकट। भारत में जैव विविधता संरक्षण हेतु 2002 में पारित Biological Diversity Act यह सुनिश्चित करता है कि प्राकृतिक संसाधनों और जैव संपदा का दोहन नियंत्रित रहे। परंतु जमीनी स्तर पर इसका प्रभाव सीमित दिखाई देता है,



जिससे किसान पर्यावरणीय असंतुलन और जलवायु संकट का सीधा शिकार बनता है। बुंदेलखंड के सूखे की यह कहानी सिर्फ पानी की कमी नहीं, बल्कि उम्मीदों के सूखने की कहानी है। गुनू बाबू का वह कथन – “यहाँ बारिश भगवान की मर्जी से नहीं, कर्ज की क़िश्त से तय होती है”⁶ - दिखाता है कि कैसे प्रकृति भी बाजार के हिसाब से चलने लगी है। जब फसल सूख जाती है, बेटा शहर भाग जाता है, तो गुनू बाबू अकेले रह जाते हैं – अपनी टूटी जमीन और टूटे सपनों के साथ।

‘लगान’ जैसी फिल्म इस चर्चा में इसलिए जरूरी है क्योंकि यह दिखाती है कि किसान जब संगठित होता है तो क्या कर सकता है। हाँ, यह औपनिवेशिक काल की कहानी है, लेकिन आज के संदर्भ में भी उतनी ही प्रासंगिक है। यह हमें याद दिलाती है कि अगर हम एकजुट हों, तो ताकतवर से ताकतवर व्यवस्था को चुनौती दे सकते हैं।

समाजशास्त्र में दुर्खीम का ‘एनोमी सिद्धांत’ पढ़ते हुए मुझे ‘फाँस’ का शकुन और ‘पीपली लाइव’ का नत्था याद आ जाते हैं। एनोमी यानी वह स्थिति जब व्यक्ति का अपने समाज से, अपने मूल्यों से भरोसा उठ जाता है और वह अकेला, दिशाहीन हो जाता है। आज का किसान ठीक इसी स्थिति में है। पहले गाँव में सामूहिकता थी, आपसी सहयोग था। अब वह सब खत्म हो गया है। बैंक और कंपनियों से उसका रिश्ता है, लेकिन वह रिश्ता बिल्कुल मशीनी है। इस सामाजिक अकेलेपन के कारण ही किसान मानसिक रूप से टूट जाता है और आत्महत्या को अंतिम रास्ता मान लेता है।

असल जमीनी हकीकत यह है कि छोटे किसान के पास न तो सिंचाई का पक्का इंतजाम है, न ही अच्छे बीज-खाद की पहुँच। डीजल महंगा है, बिजली नहीं है, फसल आने पर सही दाम नहीं मिलता। बिचौलिए खाते हैं, मंडी में धोखा होता है। PM-KISAN जैसी योजनाओं से थोड़ी राहत मिलती है,

लेकिन वह राहत इतनी बड़ी नहीं कि कर्ज के पहाड़ को हटा सके। कर्जमाफी की घोषणाएँ अक्सर राजनीतिक हथियार बनकर रह जाती हैं। साहित्य और सिनेमा ने यह साबित किया है कि किसान आत्महत्या कोई व्यक्तिगत कमजोरी नहीं, बल्कि एक व्यवस्थागत विफलता का परिणाम है।

“2021 के किसान आंदोलन ने दिखाया कि किसान अब अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक और संगठित हो रहा है। NCRB की रिपोर्टें, पर्यावरण पत्रिकाएँ और आंदोलनों की रिपोर्टिंग ने कृषि संकट को राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बनाया। साहित्य और सिनेमा ने इन मुद्दों को भावनात्मक और मानवीय संदर्भ दिया, जिससे वे सिर्फ आंकड़े न रहकर जीवंत कहानियाँ बन गयीं”⁷

आखिर में, जब मैं ‘फाँस’ के शकुन को, ‘पीपली लाइव’ के नत्था को, ‘कड़वी हवा’ के गुनू बाबू को और मैत्रेयी पुष्पा की उन संघर्षशील स्त्रियों को एक साथ देखता हूँ, तो लगता है कि ये सारी कहानियाँ मिलकर एक ही सच्चाई की तरफ इशारा करती हैं – आज का किसान सिर्फ अन्न नहीं उगा रहा, बल्कि अपने अस्तित्व की लड़ाई भी लड़ रहा है। इन कृतियों की सबसे बड़ी ताकत यह है कि ये किसान को सिर्फ दया का पात्र नहीं बनातीं, बल्कि उसे एक संघर्षशील, सोचने-समझने वाले इंसान के रूप में पेश करती हैं। और शायद, यही पहचान बदलाव की पहली सीढ़ी है।

निष्कर्ष:

21वीं सदी का हिंदी साहित्य और सिनेमा किसान जीवन के उस कटु और पीड़ादायक यथार्थ को हमारे सामने लाता है, जिसे हम अक्सर रोजमर्रा की व्यस्तताओं में अनदेखा कर देते हैं। ‘फाँस’, ‘पीपली लाइव’, ‘कड़वी हवा’ और मैत्रेयी पुष्पा की रचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि आज का किसान केवल



खेतों में मेहनत करने वाला व्यक्ति नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा इंसान है जो हर दिन आर्थिक, सामाजिक और मानसिक संघर्ष से गुजरता है। कर्ज, महंगे बीज और खाद, बाजार की अनिश्चितता, सरकारी उदासीनता और पर्यावरण संकट ने उसकी जिंदगी को असुरक्षा से भर दिया है।

इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये किसान को केवल सहानुभूति का पात्र नहीं बनातीं, बल्कि उसे सोचने-समझने वाला, संघर्ष करने वाला और आत्मसम्मान से भरा हुआ मानव दिखाती हैं। विशेष रूप से मैत्रेयी पुष्पा की रचनाएँ यह बताती हैं कि किसान समस्या में स्त्रियों की पीड़ा भी उतनी ही गहरी है, जिसे लंबे समय तक नजरअंदाज किया गया। जब परिवार का पुरुष सदस्य टूट जाता है, तब वही स्त्री पूरे परिवार को संभालने की जिम्मेदारी उठाती है, लेकिन समाज उसे पहचान नहीं देता।

साहित्य और सिनेमा यह भी दिखाते हैं कि किसान की आत्महत्या कोई व्यक्तिगत कमजोरी नहीं, बल्कि एक असफल व्यवस्था का परिणाम है। बैंक, बाजार, कंपनियाँ और नीतियाँ मिलकर ऐसी परिस्थितियाँ बना देती हैं, जिनमें किसान खुद को अकेला और असहाय महसूस करने लगता है। सामाजिक सहयोग के कमजोर होने से वह मानसिक रूप से टूट जाता है और निराशा की ओर बढ़ता है।

अंततः ये रचनाएँ हमें आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती हैं। वे सवाल उठाती हैं कि क्या हम केवल किसान के श्रम पर निर्भर रहकर उसकी पीड़ा से मुँह मोड़ सकते हैं? क्या विकास का अर्थ केवल आर्थिक लाभ है, या उसमें मानवीय संवेदना भी शामिल होनी चाहिए? इन कृतियों के माध्यम से हमें यह समझ में आता है कि किसान का सम्मान और सुरक्षा केवल उसकी नहीं, बल्कि पूरे समाज की जिम्मेदारी है। यदि हम सच में एक

न्यायपूर्ण और संवेदनशील समाज बनाना चाहते हैं, तो हमें इन आवाजों को सुनना होगा और उन्हें बदलाव में बदलना होगा।

संदर्भ:

1. <https://dspace.cus.ac.in/jspui/bitstream/1/7446/1/VINITA%20DEVI..pdf> (फॉस – संजीव – वाणी प्रकाशन – 2015 - पृ. क्र. 15)
2. <https://dspace.cus.ac.in/jspui/bitstream/1/7446/1/VINITA%20DEVI..pdf> (फॉस – संजीव – वाणी प्रकाशन – 2015 - पृ. क्र. 73)
<https://apnimaati.com/2024/12/blog-post> (फॉस – संजीव – वाणी प्रकाशन – 2015 - पृ. क्र. 10)
3. <https://books.google.je/books?id=gZwtcuGA46MC&printsec=frontcover#v=onepage&q&f=false> (इदन्नमम- मैत्रेयी पुष्पा - राजकमल प्रकाशन या किताबघर, नई दिल्ली)
4. https://www.youtube.com/results?search_query=peepli+live Watch Peepli Live on Plex (legally stream via Plex) Peepli Live YouTube videos —
5. <https://www.youtube.com/watch?v=AjKsJfWxts> Kadvi Hawa Trailer on YouTube
6. कड़वी हवा — Climate Change / Farmer Film रिलीज वर्ष: 24 नवंबर 2017
7. NCRB — सरकारी रिपोर्ट किसान आत्महत्या आँकड़े: NCRB Annual Reports साक्ष्य स्रोत: <https://ncrb.gov.in>